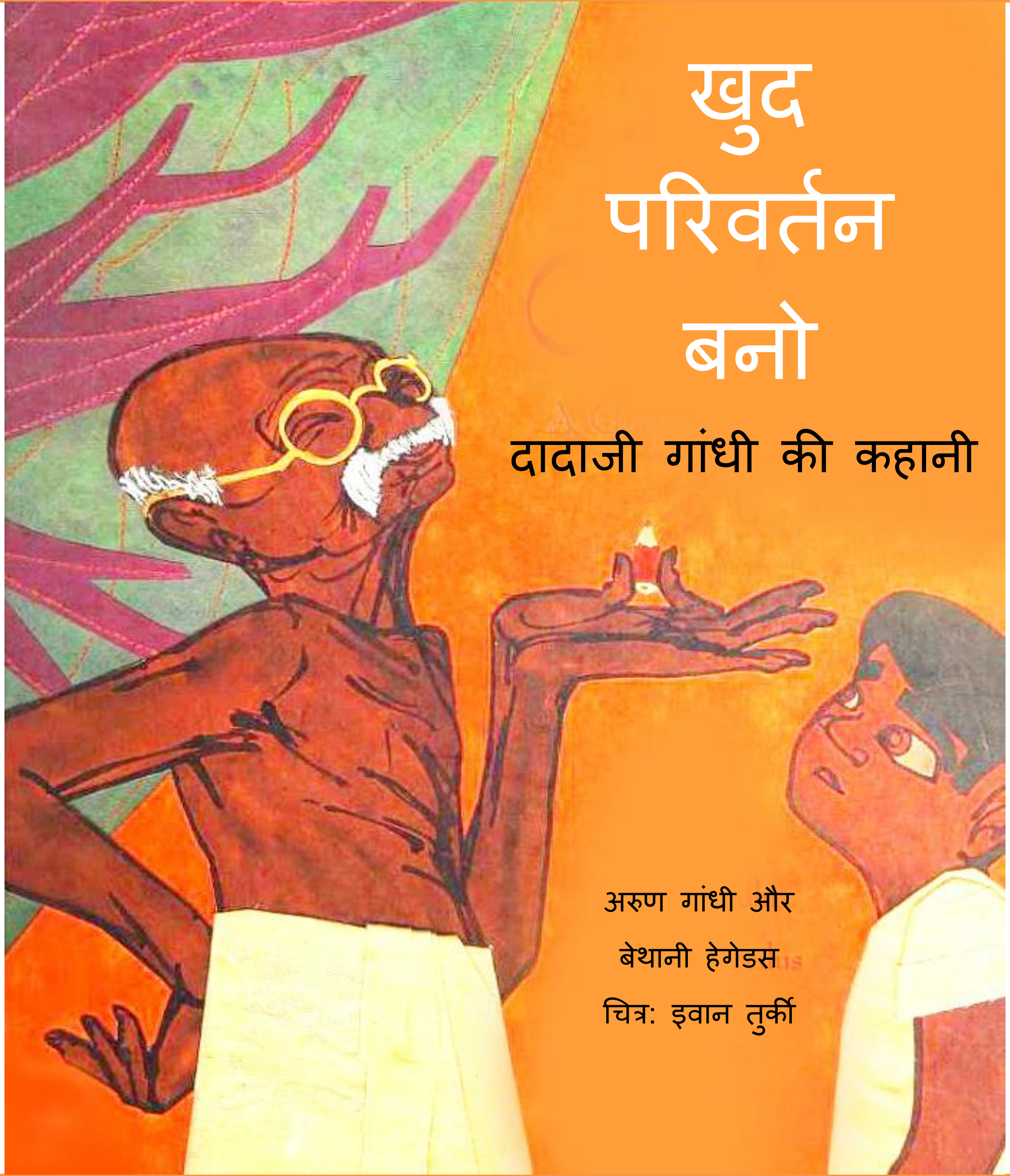


खुद परिवर्तन बनो

दादाजी गांधी की कहानी

अरुण गांधी और
बेथानी हेगेडस
चित्र: इवान तुर्की



खुद परिवर्तन बनो

दादाजी गांधी की कहानी

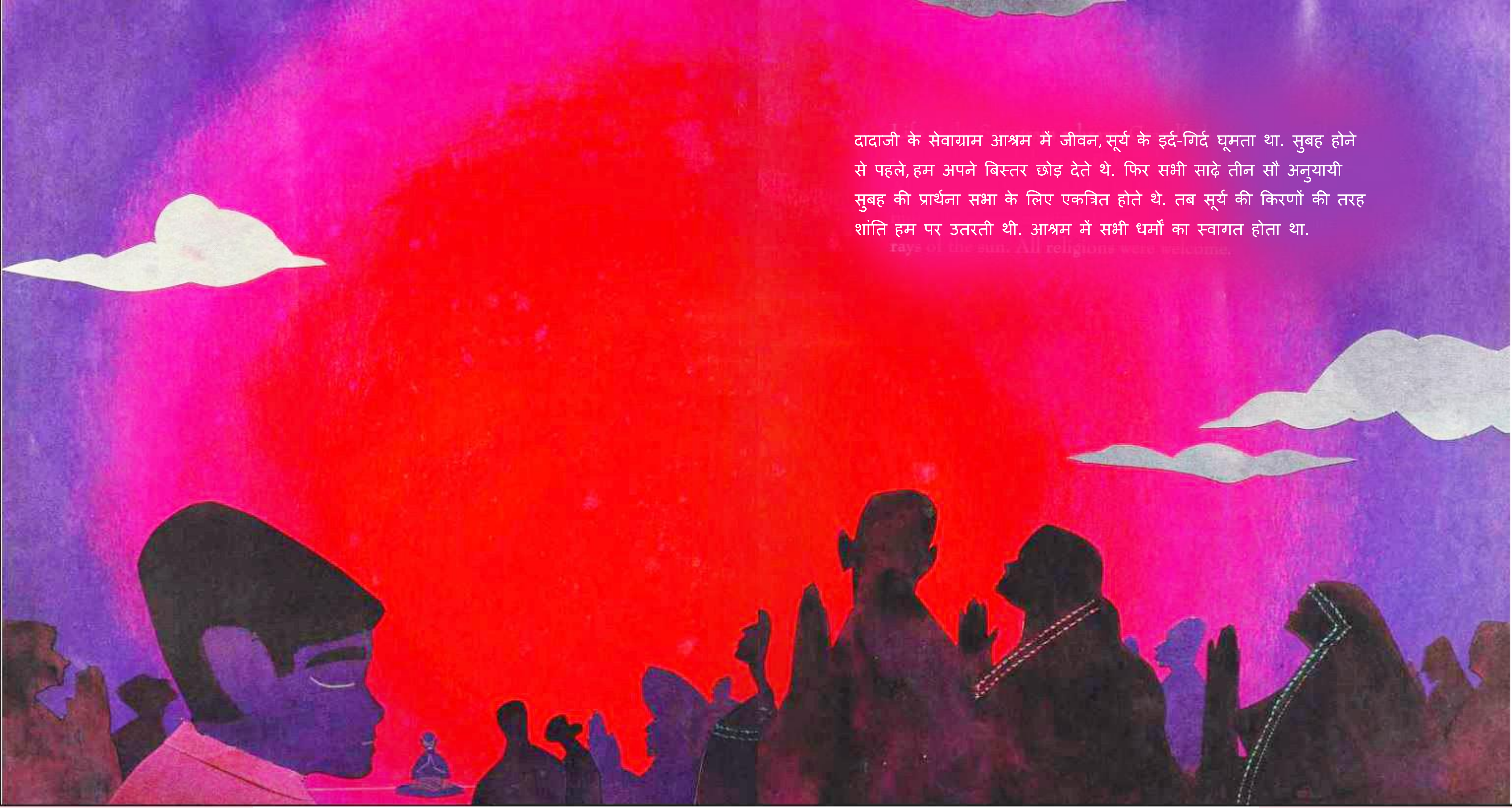
अरुण गांधी और बेथानी हेगेडस

चित्र: इवान तुर्की



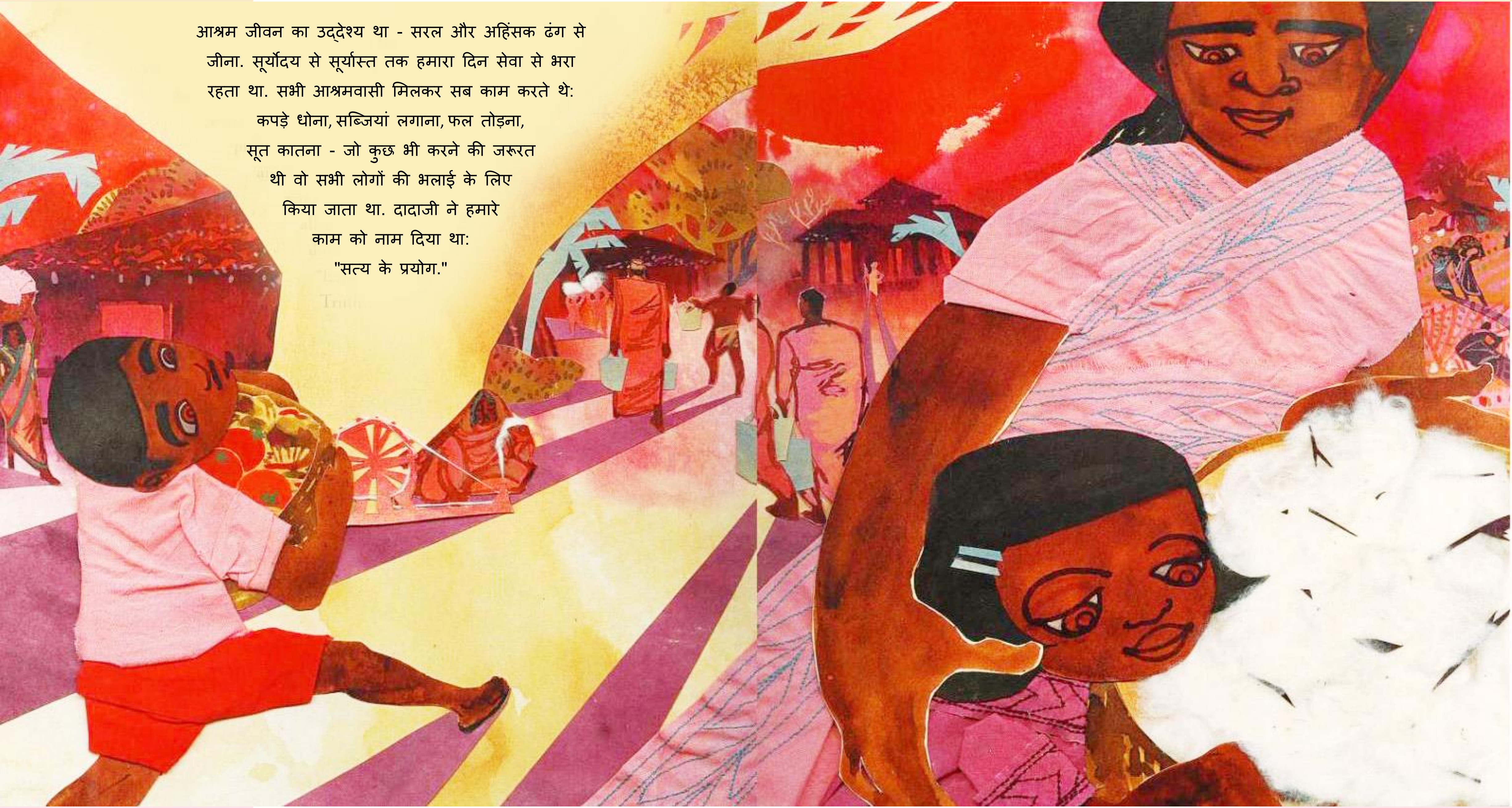
दुनिया उन्हें महात्मा - महान आत्मा के रूप में जानती है.

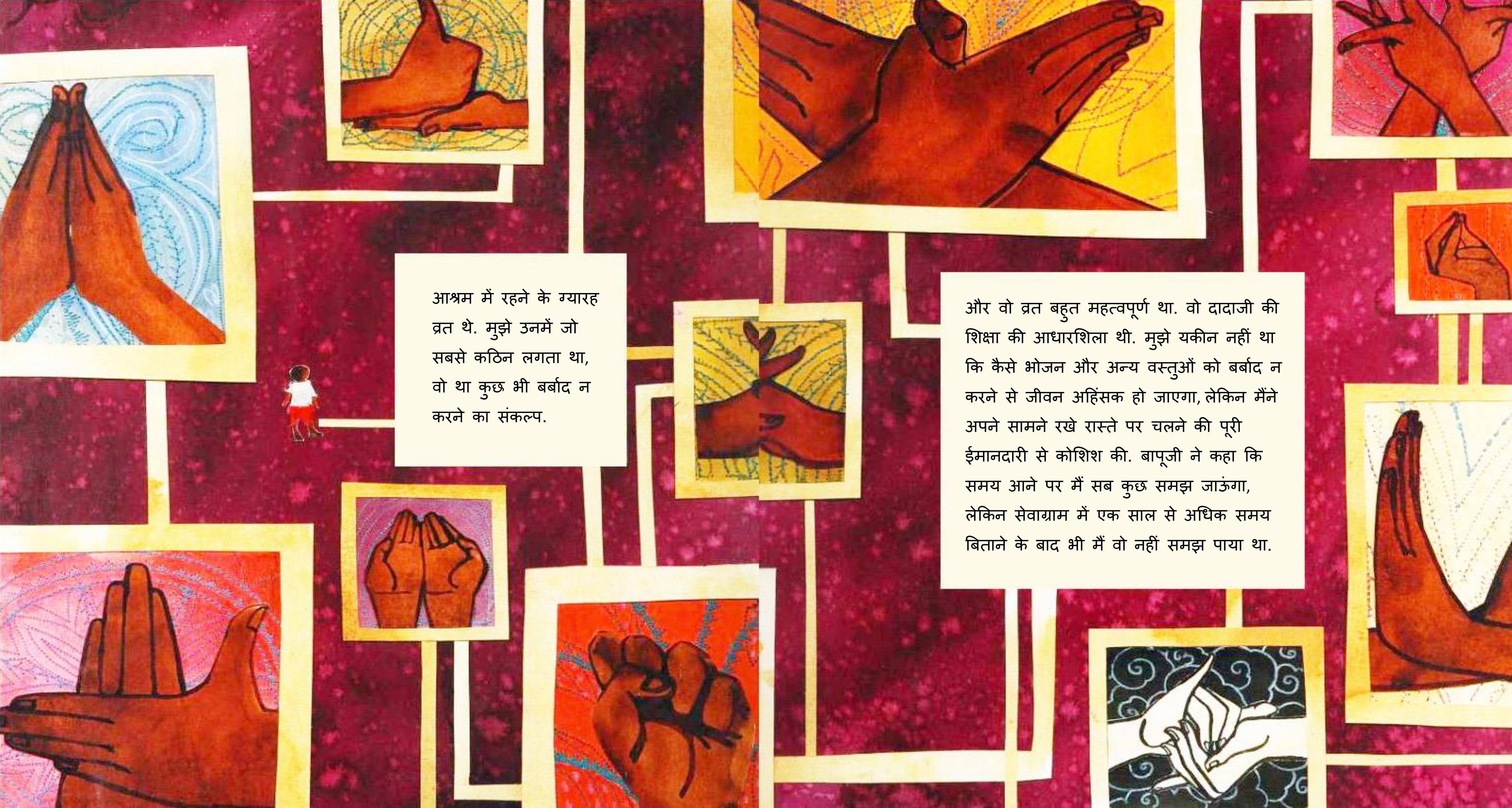
लेकिन मेरे लिए वो मेरे दादाजी थे.



दादाजी के सेवाग्राम आश्रम में जीवन, सूर्य के इर्द-गिर्द घूमता था. सुबह होने से पहले, हम अपने बिस्तर छोड़ देते थे. फिर सभी साढ़े तीन सौ अनुयायी सुबह की प्रार्थना सभा के लिए एकत्रित होते थे. तब सूर्य की किरणों की तरह शांति हम पर उतरती थी. आश्रम में सभी धर्मों का स्वागत होता था.

आश्रम जीवन का उद्देश्य था - सरल और अहिंसक ढंग से जीना. सूर्योदय से सूर्यास्त तक हमारा दिन सेवा से भरा रहता था. सभी आश्रमवासी मिलकर सब काम करते थे: कपड़े धोना, सब्जियां लगाना, फल तोड़ना, सूत कातना - जो कुछ भी करने की जरूरत थी वो सभी लोगों की भलाई के लिए किया जाता था. दादाजी ने हमारे काम को नाम दिया था: "सत्य के प्रयोग."





आश्रम में रहने के ग्यारह व्रत थे. मुझे उनमें जो सबसे कठिन लगता था, वो था कुछ भी बर्बाद न करने का संकल्प.

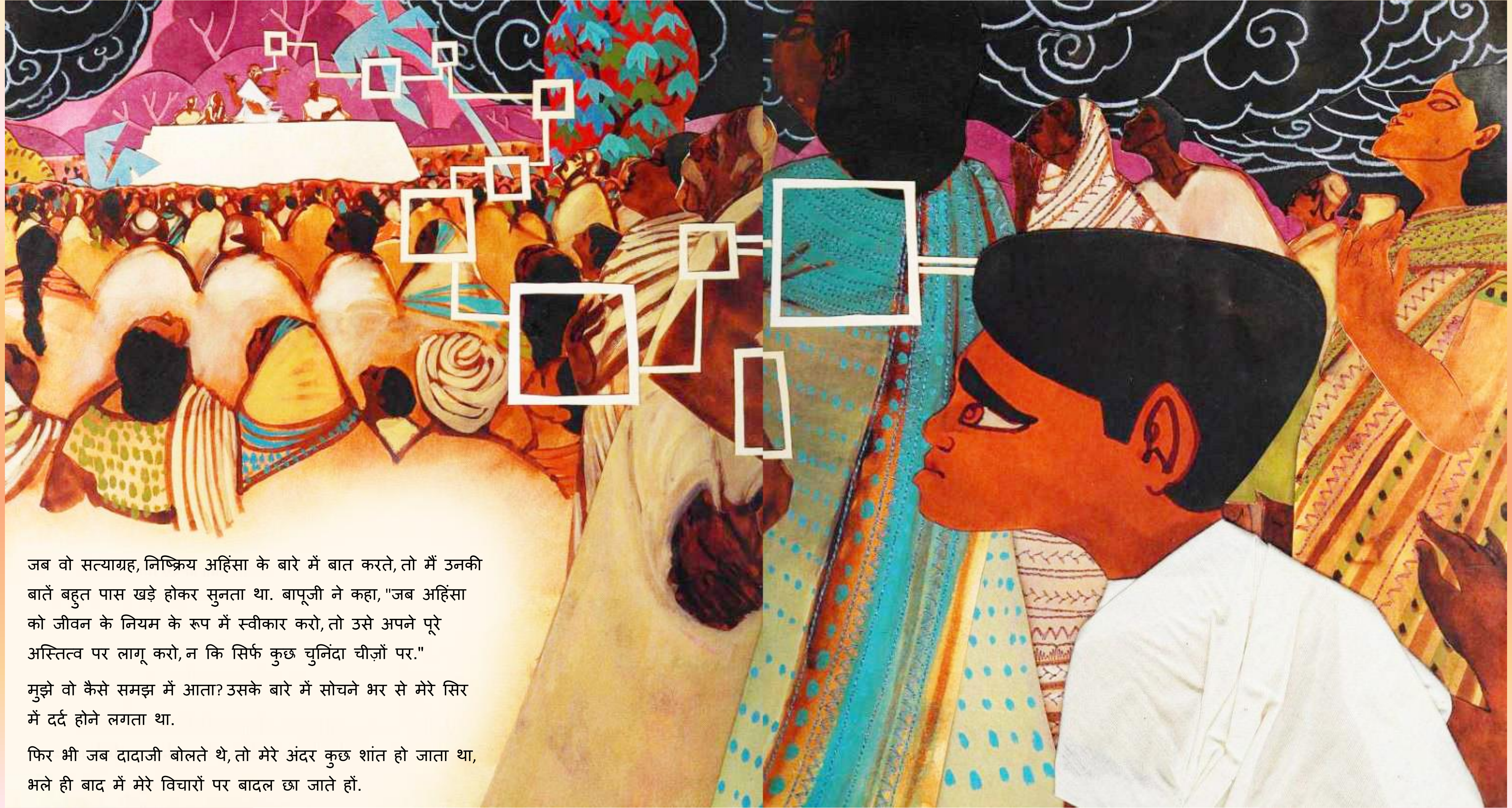
और वो व्रत बहुत महत्वपूर्ण था. वो दादाजी की शिक्षा की आधारशिला थी. मुझे यकीन नहीं था कि कैसे भोजन और अन्य वस्तुओं को बर्बाद न करने से जीवन अहिंसक हो जाएगा, लेकिन मैंने अपने सामने रखे रास्ते पर चलने की पूरी ईमानदारी से कोशिश की. बापूजी ने कहा कि समय आने पर मैं सब कुछ समझ जाऊंगा, लेकिन सेवाग्राम में एक साल से अधिक समय बिताने के बाद भी मैं वो नहीं समझ पाया था.



जल्द ही, दादाजी ने मुझसे उनके साथ पूना चलने को कहा. मुझे आश्रम के जीवन - वहां जल्दी उठने और कड़ी मेहनत करने से छुट्टी पाकर काफी खुशी हुई.

लेकिन पूना के प्राकृतिक चिकित्सा केंद्र में हमारी दिनचर्या लगभग आश्रम जैसी ही थी: वही प्रतिज्ञा, वही आत्म-अनुशासन.

जब दादाजी प्रवचन देते, तो हजारों लोग उन्हें सुनने आते और बगीचों में खड़े रहते थे. जवान और बूढ़ों की सड़कों पर भीड़ होती थी.

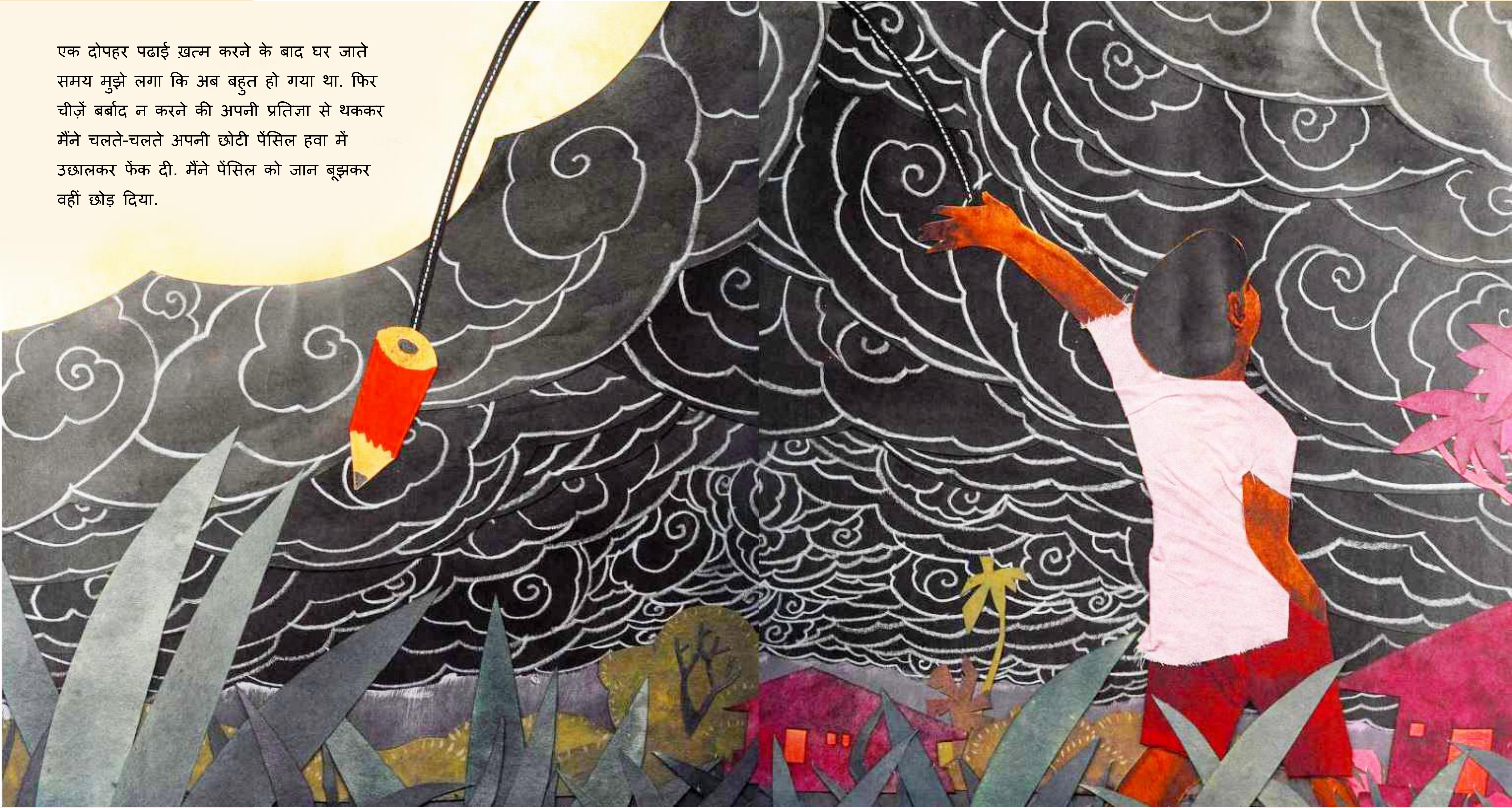


जब वो सत्याग्रह, निष्क्रिय अहिंसा के बारे में बात करते, तो मैं उनकी बातें बहुत पास खड़े होकर सुनता था. बापूजी ने कहा, "जब अहिंसा को जीवन के नियम के रूप में स्वीकार करो, तो उसे अपने पूरे अस्तित्व पर लागू करो, न कि सिर्फ कुछ चुनिंदा चीज़ों पर."

मुझे वो कैसे समझ में आता? उसके बारे में सोचने भर से मेरे सिर में दर्द होने लगता था.

फिर भी जब दादाजी बोलते थे, तो मेरे अंदर कुछ शांत हो जाता था, भले ही बाद में मेरे विचारों पर बादल छा जाते हों.

एक दोपहर पढाई ख़त्म करने के बाद घर जाते समय मुझे लगा कि अब बहुत हो गया था. फिर चीज़ें बर्बाद न करने की अपनी प्रतिज्ञा से थककर मैंने चलते-चलते अपनी छोटी पेंसिल हवा में उछालकर फेंक दी. मैंने पेंसिल को जान बूझकर वहीं छोड़ दिया.



उस शाम मैंने बापूजी से नई पेंसिल माँगी.
दादाजी ने कहा, "आज सुबह तुम्हारे पास बिल्कुल अच्छी पेंसिल थी."
"लेकिन वो बहुत छोटी थी, इसलिए मैंने उसे फेंक दिया," मैंने तर्क दिया. लेकिन मैं जो वास्तव में सोच रहा था उसे मैंने उनसे साझा नहीं किया: मैं एक गांधी था - क्या मैं एक नई पेंसिल का मालिक होने लायक नहीं था?
"आज सुबह तुम्हारी पेंसिल बहुत छोटी नहीं थी," दादाजी ने अपनी बिना दांत वाली मुस्कराहट के साथ कहा. "और फिर तुमने क्या कसम खाई थी?"
"कि मैं किसी चीज़ को बर्बाद नहीं करूंगा?" मैंने अपने सैंडल की ओर देखते हुए कहा.
"देखो कोई कसम पहले खुद के लिए और फिर दूसरों के लिए होती है."
"वो छोटी पेंसिल का टुकड़ा इतना महत्वपूर्ण क्यों है?" मैंने पूछा.
बापूजी ने मेरे कंधे को थपथपाया, "देखो पेंसिल नहीं, लेकिन तुम महत्वपूर्ण हो."
बापूजी हमेशा पहेलियों में बात कर रहे थे. वो एक सरल जवाब क्यों नहीं देते थे?
फिर वो मुझे दरवाजे तक ले गए. "देखो तुम्हें जाना ही होगा और अपनी पेंसिल की तलाश करनी होगी."
क्या मुझे सच में उस पेंसिल के टुकड़े की तलाश करनी होगी?
"लेकिन अब तो काफी रात हो गई है," मैंने कहा.
"अच्छा याद दिलाया, अरुण. तुम्हें एक टोर्च की आवश्यकता होगी." फिर उन्होंने मुझे एक टॉर्च दी और रात की ओर इशारा किया.



मैं अंधेरे में आगे चला. मेरा चेहरा शर्म से जल रहा था. दादाजी ने मुझे पहले ही बहुत कुछ सिखाया था. लेकिन अभी मुझे उनसे और बहुत कुछ सीखना था. वास्तव में मैं एक निराशा था - उनके लिए और अपने लिए भी.

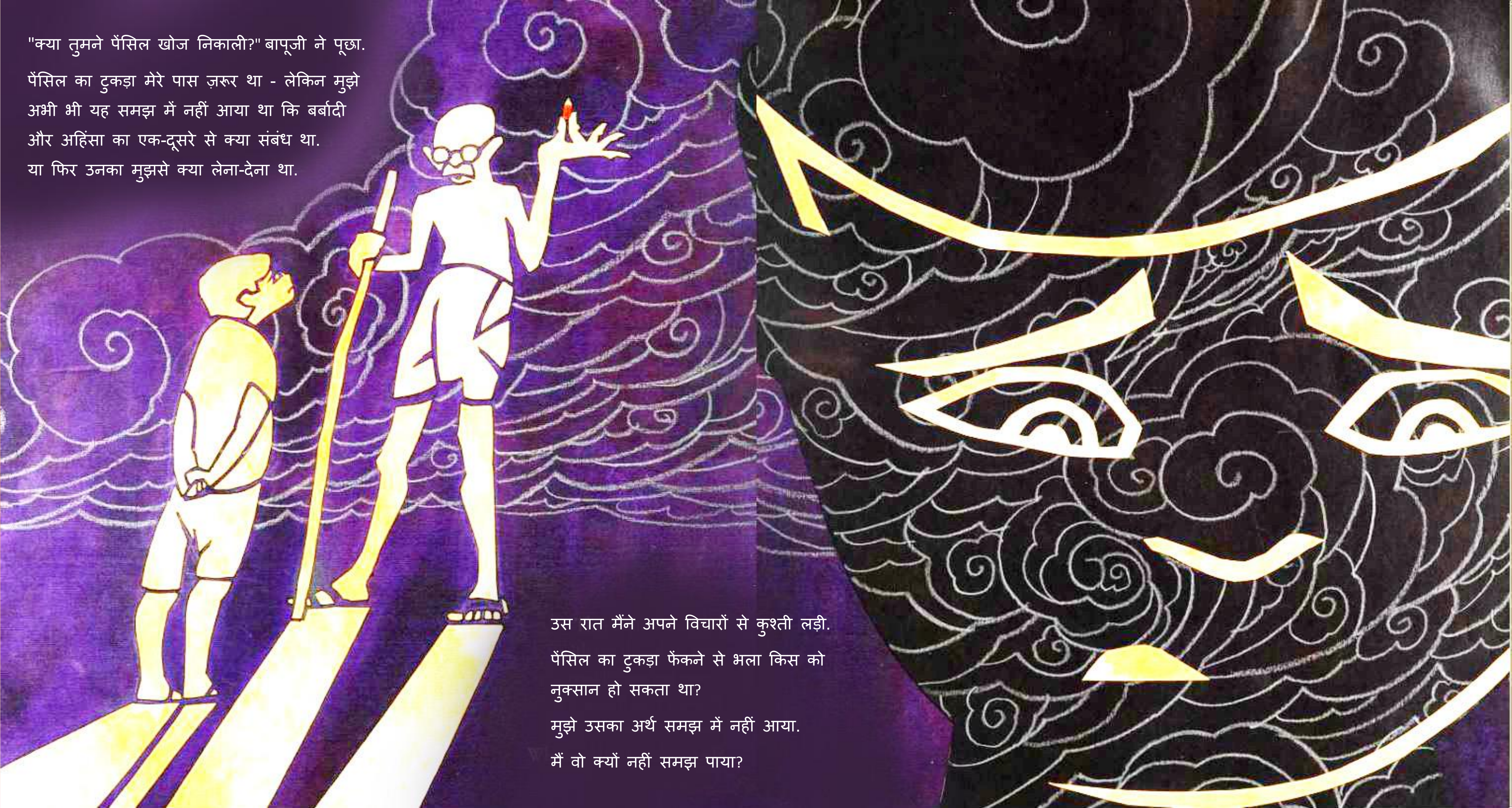
मैं उसी रास्ते पर वापिस गया. मैंने टूटे पैरों वाली बेंच को पार किया. फिर आवारा कुत्तों का झुंड पार किया. फिर झाड़ीदार घास के पास आकर मैं रुक गया. वहां मैं पिछले कुछ घंटों पहले ही आया था.

घुटने टेकते हुए, मैंने अपनी उंगलियों से पौधों के बीच टटोला. लेकिन मुझे वहां कुछ नहीं मिला.

ऊपर, सितारे मेरा मज़ाक उड़ाते दिख रहे थे. ढूंढो, ढूंढो, वे टिमटिमा रहे थे, और मुझे ताना मार रहे थे.

अंत में, घंटों की खोज के बाद, मुझे आखिर वो पेंसिल का टुकड़ा मिल. मैंने पेंसिल को अपनी जेब में रखा और वापस दादाजी की कुटिया में गया.





"क्या तुमने पैंसिल खोज निकाली?" बापूजी ने पूछा.

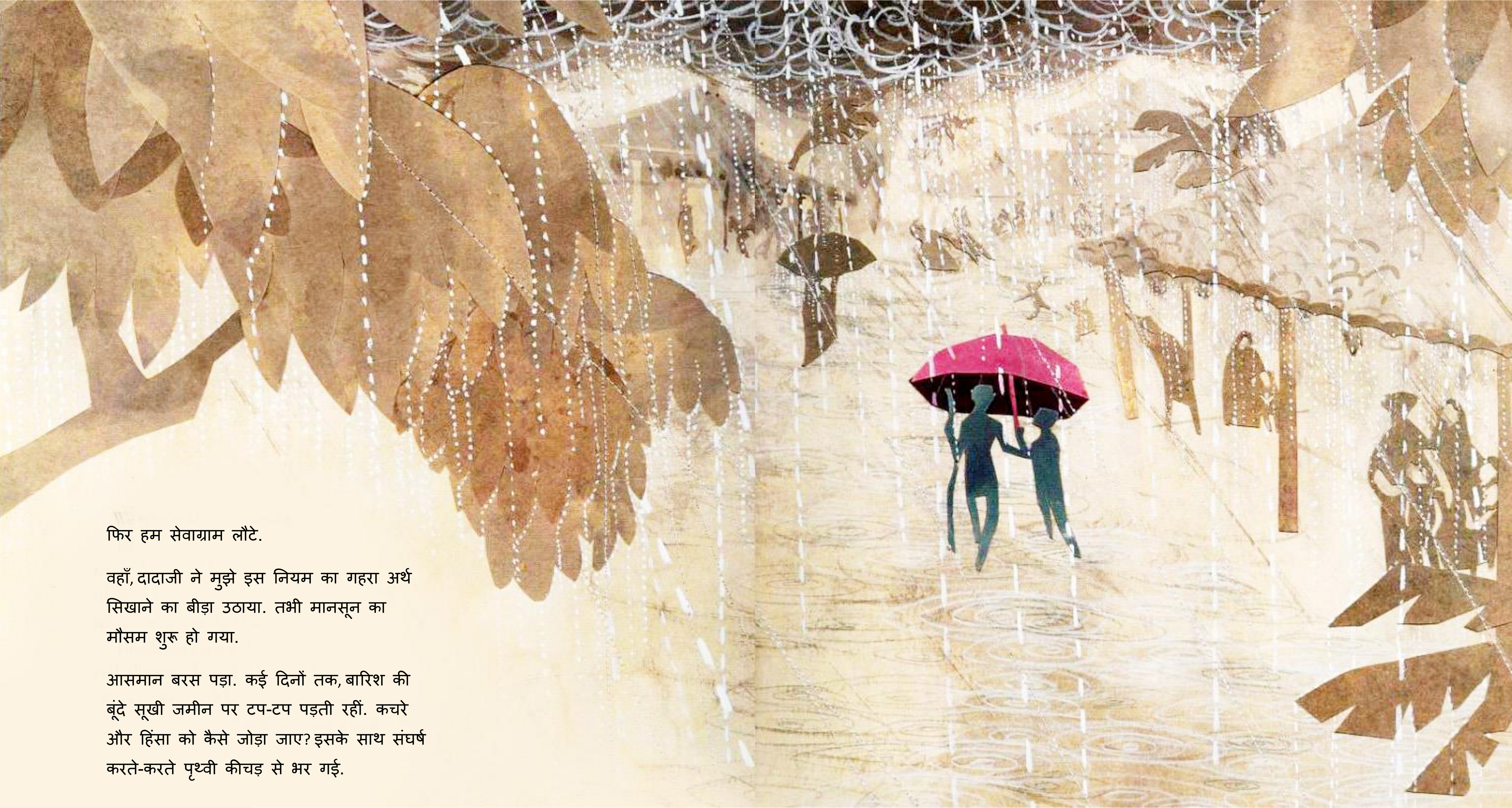
पैंसिल का टुकड़ा मेरे पास ज़रूर था - लेकिन मुझे अभी भी यह समझ में नहीं आया था कि बर्बादी और अहिंसा का एक-दूसरे से क्या संबंध था. या फिर उनका मुझसे क्या लेना-देना था.

उस रात मैंने अपने विचारों से कुश्ती लड़ी.

पैंसिल का टुकड़ा फेंकने से भला किस को नुक्सान हो सकता था?

मुझे उसका अर्थ समझ में नहीं आया.

मैं वो क्यों नहीं समझ पाया?



फिर हम सेवाग्राम लौटे.

वहाँ, दादाजी ने मुझे इस नियम का गहरा अर्थ सिखाने का बीड़ा उठाया. तभी मानसून का मौसम शुरू हो गया.

आसमान बरस पड़ा. कई दिनों तक, बारिश की बूंदे सूखी जमीन पर टप-टप पड़ती रहीं. कचरे और हिंसा को कैसे जोड़ा जाए? इसके साथ संघर्ष करते-करते पृथ्वी कीचड़ से भर गई.

दादाजी बहुत व्यस्त थे, लेकिन फिर भी दिन में एक घंटा वो मेरे साथ बैठते थे.

उन्होंने कहा, "चीज़ों को फेंकना एक हिंसक कार्रवाई है. जब चीज़ें कम होती हैं, तो लोग जमाखोरी करते हैं. जिनके पास साधन नहीं होते हैं वे अंततः हड़ताल करते हैं. और फिर लड़ाई होती है," उन्होंने कहा. "क्या पेंसिल फेंकते समय तुमने उन सब चीज़ों के बारे में सोचा?"

मैं उनमें से कुछ नहीं चाहता था.

क्या इसीलिए हम सूत कातते हैं?

क्या इसीलिए हम अपना कपड़ा बुनते हैं?



दादाजी ने सुझाव दिया कि मैं हिंसा का एक पेड़ बनाऊं, जिसमें हिंसा एक तना हो और शारीरिक हिंसा और चोट न पहुँचाने वाली निष्क्रिय हिंसाएं उसकी शाखाओं के रूप में हो.

"कोई भी कार्य करने से पहले, सोचो कि उसका दूसरों पर क्या प्रभाव पड़ेगा," उन्होंने कहा. "क्या उससे किसको चोट पहुँचेगी? तुम्हें? किसी और को? पृथ्वी? क्या पृथ्वी को लगी चोट हमें खुद नहीं पहुंचेगी?"

हमने मिलकर एक पेड़ बनाया और उसे दीवार पर चिपका दिया. प्रत्येक दिन, मैंने उसमें अपने विचार और कार्य जोड़े.



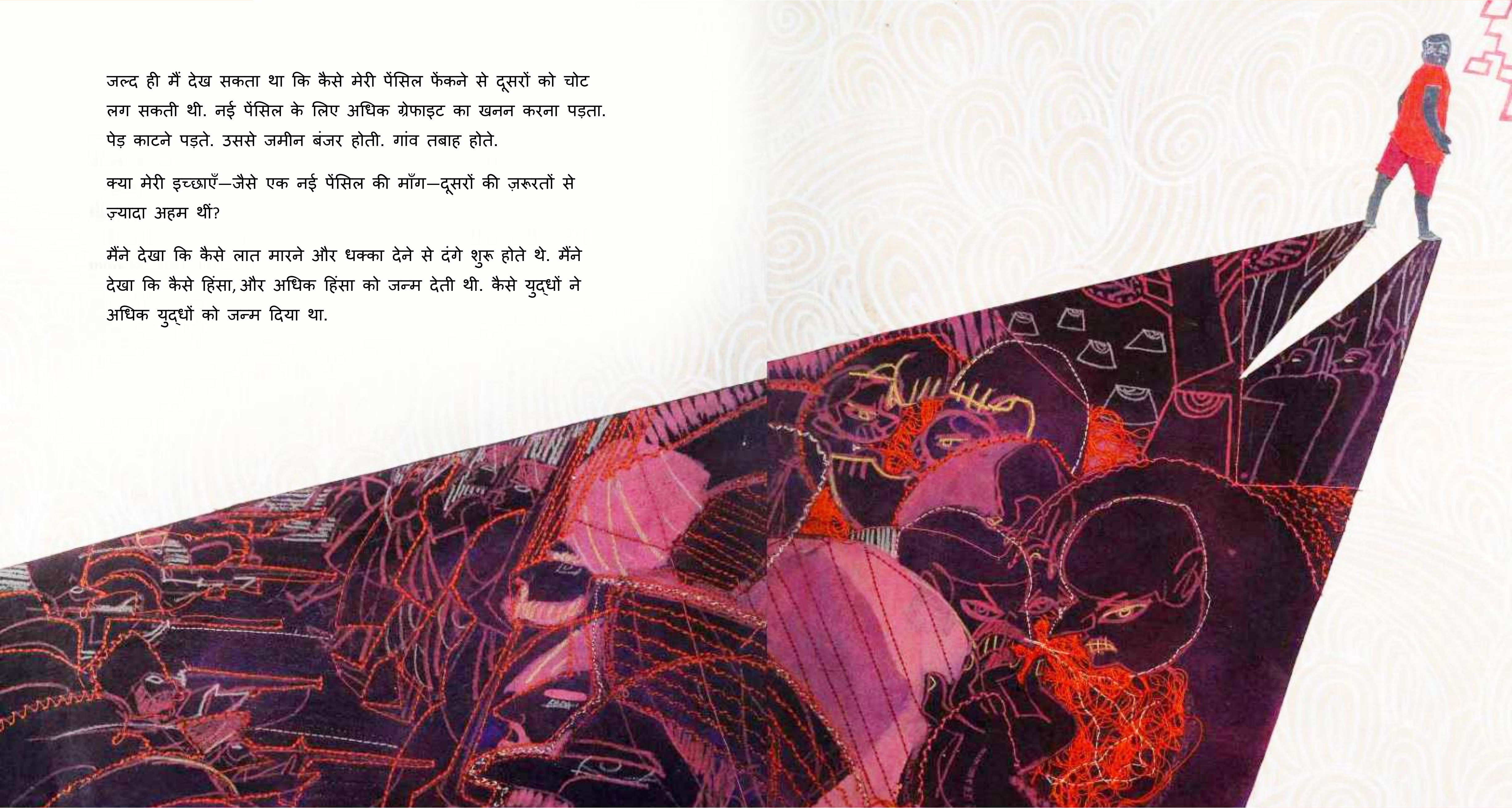
दादाजी मेरी कुटिया में आते थे, और वे मेरे पेड़ को बढ़ते हुए देखते थे. जब मैं असमंजस में होता कि फलां चीज़ को कहाँ रखा जाए तो दादाजी यह तय करने में मेरी मदद करते थे कि क्या वो विचार या कार्य निष्क्रिय हिंसा था या शारीरिक हिंसा थी. जैसे-जैसे मानसून की बारिश ने पृथ्वी को नया किया, मेरा पेड़ भी बढ़ता और बढ़ता गया. दोनों शाखाएँ पत्तियों से भारी हो गईं, लेकिन निष्क्रिय हिंसा का पक्ष बहुत विशाल हो गया.

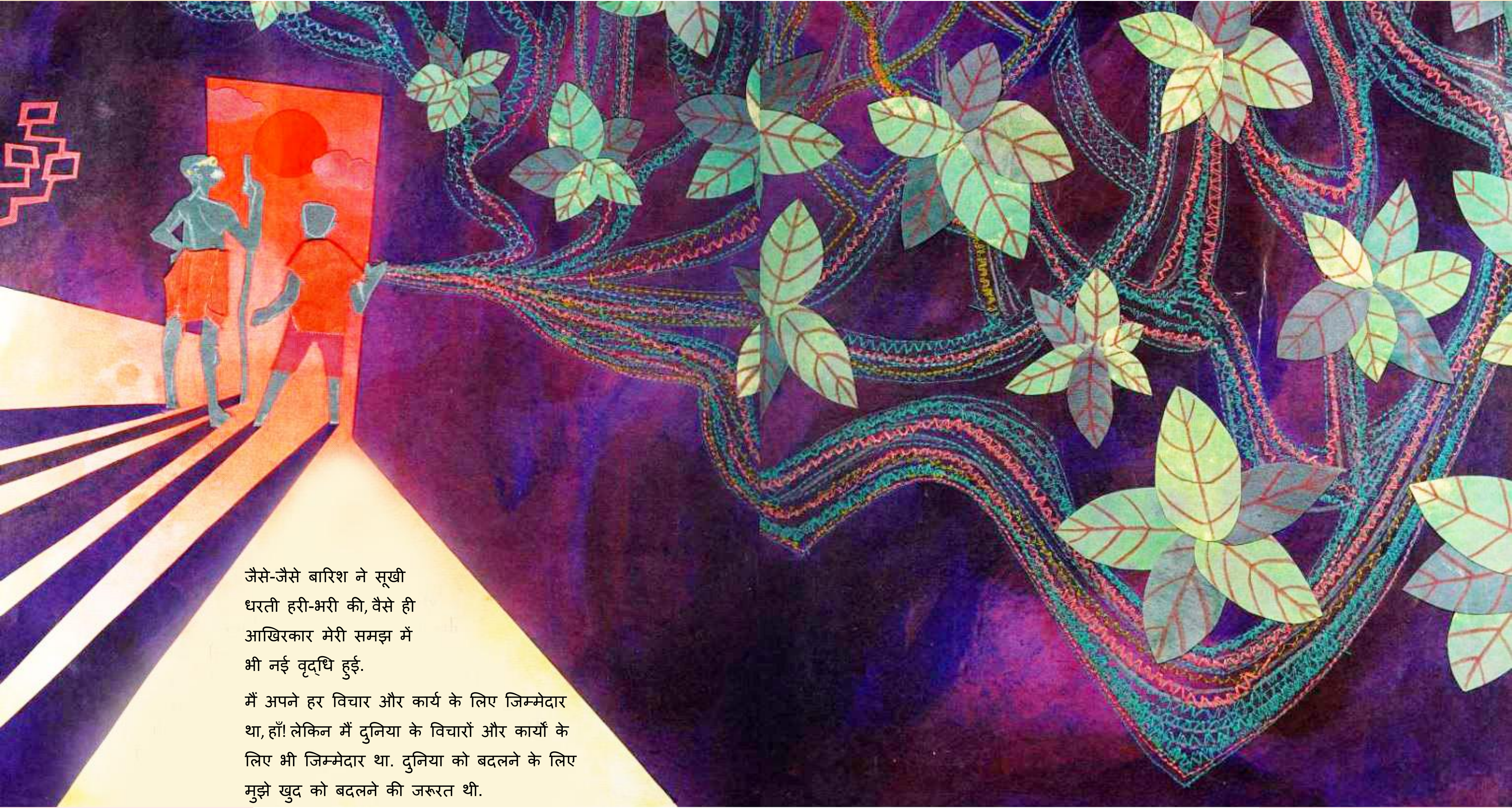


जल्द ही मैं देख सकता था कि कैसे मेरी पेंसिल फेंकने से दूसरों को चोट लग सकती थी. नई पेंसिल के लिए अधिक ग्रेफाइट का खनन करना पड़ता. पेड़ काटने पड़ते. उससे जमीन बंजर होती. गांव तबाह होते.

क्या मेरी इच्छाएँ—जैसे एक नई पेंसिल की माँग—दूसरों की ज़रूरतों से ज़्यादा अहम थीं?

मैंने देखा कि कैसे लात मारने और धक्का देने से दंगे शुरू होते थे. मैंने देखा कि कैसे हिंसा, और अधिक हिंसा को जन्म देती थी. कैसे युद्धों ने अधिक युद्धों को जन्म दिया था.





जैसे-जैसे बारिश ने सूखी धरती हरी-भरी की, वैसे ही आखिरकार मेरी समझ में भी नई वृद्धि हुई.

मैं अपने हर विचार और कार्य के लिए जिम्मेदार था, हाँ! लेकिन मैं दुनिया के विचारों और कार्यों के लिए भी जिम्मेदार था. दुनिया को बदलने के लिए मुझे खुद को बदलने की जरूरत थी.

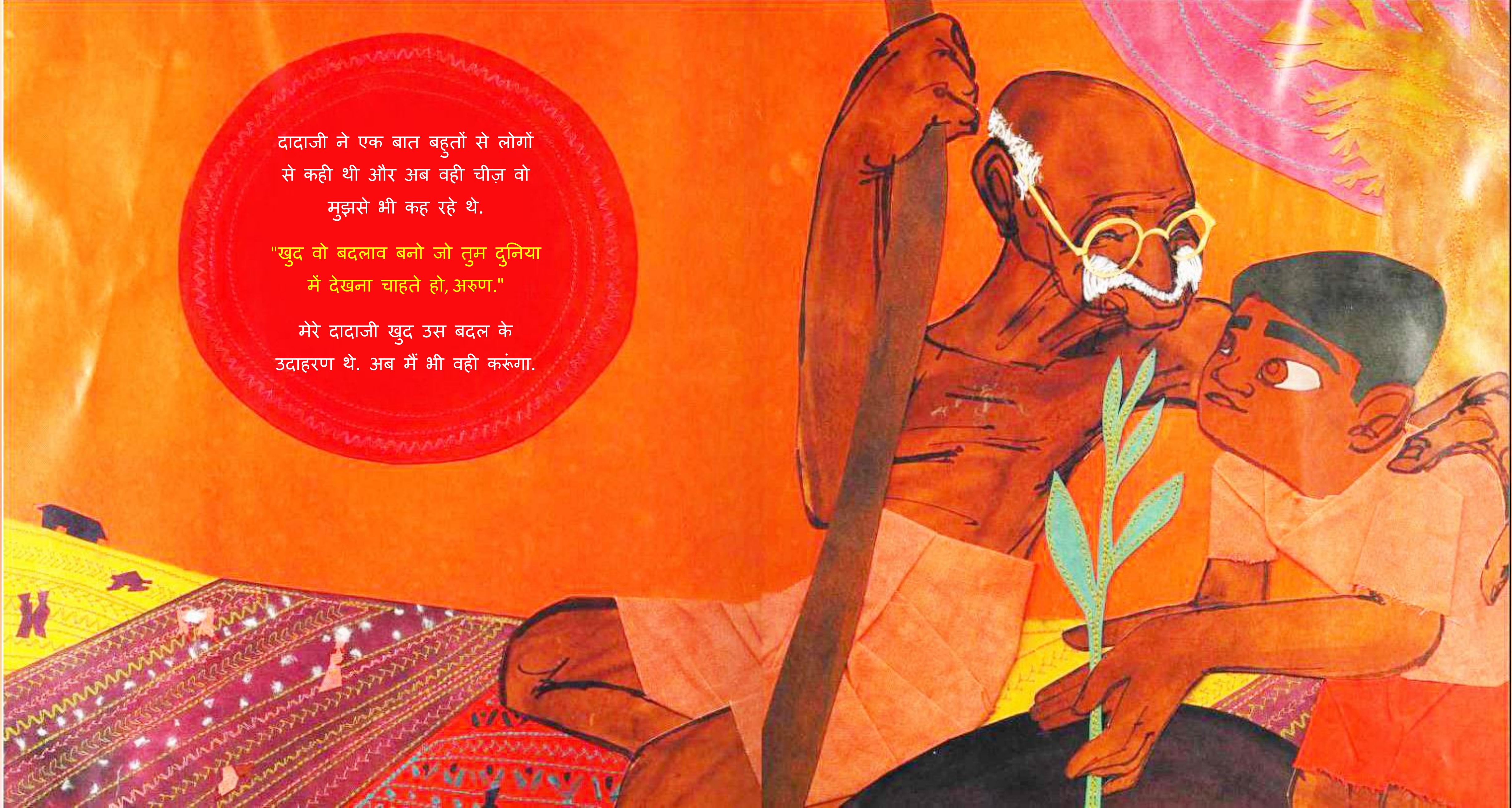
जैसे ही बारिश समाप्त हुई और सूरज लौट आया, दादाजी ने मेरा हाथ थाम लिया. हमने आश्रम में नया रोपण किया और प्रार्थना की.



दादाजी ने एक बात बहुतों से लोगों
से कही थी और अब वही चीज़ वो
मुझसे भी कह रहे थे.

"खुद वो बदलाव बनो जो तुम दुनिया
में देखना चाहते हो, अरुण."

मेरे दादाजी खुद उस बदल के
उदाहरण थे. अब मैं भी वही करूंगा.



लेखकों का एक नोट

अरुण गांधी अपने दादा, मोहनदास के. गांधी, भारत के स्वतंत्रता और आध्यात्मिक नेता, के साथ सेवाग्राम आश्रम में दो साल तक रहे - 1946 से 1948 तक, जब वे बारह वर्ष के थे. मुझे अरुण गांधी को न्यूयॉर्क शहर में बोलते हुए सुनने का सौभाग्य मिला था, जब वो 9/11 के आतंकी हमलों के बाद आशा और उम्मीद का सन्देश देने वहाँ आए थे. अरुण अपने बचपन की कहानियों, अपने दादाजी की अनूठी अंतर्दृष्टि और यादों और उनके जीवन पर उनके प्रभाव को एक किताब में बदलने के लिए मेरे साथ काम करने के लिए सहमत हुए. उससे मुझे 9/11 दिन के बाद जिंदा रहने के बाद खुद से किए गए वादे को पूरा करने में मदद मिली. मैं अब अपने जीवन में कुछ नेक करना चाहता था.

निष्क्रिय हिंसा की जांच करना और उसे समझना कोई आसान काम नहीं है. "खुद वो बदलाव बनो" कठिन प्रश्न पूछता है. लेकिन अरुण के साथ स्कूलों, चर्चों, पुस्तक उत्सवों और अन्य स्थानों पर बोलने का अवसर मिलने के बाद, मैं कह सकता हूँ कि यह चर्चा पहले से ही जारी थी. जब अरुण ने यह आँकड़ा लोगों के साथ साझा किया तो दर्शकों की प्रतिक्रिया सुनने लायक थी: अमेरिका में हम सालाना 120 बिलियन डॉलर मूल्य का भोजन फेंक देते हैं. एक बार, जब बच्चों से पूछा गया कि हम जो बर्बाद करते हैं, उससे कितने लोगों को खाना खिलाया जा सकता है, तो एक बच्चे ने खड़े होकर कहा, "एक अरब लोग!"

शारीरिक हिंसा में वृद्धि के साथ, जैसा कि महात्मा ने कहा, हमें उसकी ईंधन सप्लाई बंद करने की ज़रुरत है: निष्क्रिय हिंसा - हममें से कितने लोग भोजन बर्बाद करते हैं, या उपकरण, कपड़े और खिलौने खराब न होने पर भी उन्हें फेंक देते हैं? हममें से कितने लोग री-सायकल नहीं करते हैं? हममें से कितने लोग दूसरों के बारे में बुरा सोचते हैं? लोगों को बुरा-भला कहना? दूसरों पर अपनी मान्यताएं थोपना? अगर हम हिंसक दुनिया में नहीं रहना चाहते हैं, तो हमें उस ईंधन की सप्लाई बंद कर देनी चाहिए. और अगर हम वैसे करते हैं तो फिर अपने विचारों, कार्यों से प्रत्येक, युवा और वृद्ध ऐसे बदलाव ला सकते हैं जो हम अपने लिए, दूसरों के लिए और इस दुनिया के लिए चाहते हैं.

बच्चे सहज रूप से जानते हैं कि दुनिया में बदलाव की जरूरत है. वे दुनिया की तस्वीर को बदलना चाहते हैं. दान के लिए सिक्के एकत्र करना, भूखों को खाना खिलाना, ऐसी तकनीकों का आविष्कार करना जो मानवता को लाभ पहुंचाएं - कोई भी व्यक्ति उनका उपयोग उस परिवर्तन के लिए कर सकता है जिसे हम इस दुनिया में देखना चाहते हैं. इसलिए ही हमने "खुद वो बदलाव बनो" की योजना बनाई. हम आशा करते हैं कि आप न केवल संकल्प लेंगे बल्कि उस प्रतिज्ञा को भी पूरा करेंगे.

हम सब मिलकर बदलाव ला सकते हैं. हमसे ज़रूर जुड़ें.

बेथानी हेगेडस और अरुण गांधी

"खुद अपने आप बदलाव बनो" प्रतिज्ञा

मैं अपने विचारों और कार्यों की जड़ों को खोजने के लिए, और निष्क्रिय हिंसा को समझने के लिए गहराई से सोचने की प्रतिज्ञा लेता हूं.

मैं अपनी जरूरतों से अधिक संसाधनों का उपयोग नहीं करने की प्रतिज्ञा लेता हूं.

मैं सबकी भलाई के लिए और दूसरों के साथ मिलकर काम करना सीखने की प्रतिज्ञा लेता हूँ.

मैं दुनिया में जो बदलाव देखना चाहता हूं, वो खुद बनने का संकल्प लेता हूं.

अतिरिक्त जानकारी के लिए grandfathergandhi.com पर जाएं